स्कूल की अनकही कहानियाँ अब अनकही नहीं

प्रभात

साहित्य यह मौक़े देता है कि हम अनकही बातों को कह और सुन पाएँ। कम कही और कम सुनी जानी वाली बातों को उनके पूरेपन में, पूरी जीवन्तता और विश्वास के साथ एक सहज विस्तार दे पाएँ। बाल साहित्य के प्रकाशन की दुनिया में पिछले दो दशकों से ये प्रयास तेज़ हुए हैं। इस आलेख में प्रभात ने एकलव्य प्रकाशन की 'डिफरेंट टेल्स' शृंखला के एक कहानी संकलन *स्कूल की अनकही कहानियाँ* और एक अन्य किताब *प्यारी मैडम* के बहाने इन अनकहे विषयों और जीवन चरित्रों का विश्लेषण किया है। सं.

स्कूल की अनकही कहानियाँ 'डिफरेंट टेल्स' शृंखला के तहत प्रकाशित हुई किताब है। ये 'टेल्स' किन मायनों में 'डिफरेंट' हैं, इस बारे में किताब के बैक कवर पर लिखा है– 'डिफरेंट टेल्स क्षेत्रीय भाषा की कहानियाँ ढूँढ़-ढूँढ़ कर निकालती है, ऐसी कहानियाँ जो ज़िन्दगी की बातें करती हैं। ऐसे समुदायों की कहानियाँ जिनके बारे में बच्चों की किताबों में बहुत कम पढ़ने को मिलता है।'... इस किताब की तीनों कहानियों को पढ़कर भी ये बात खरी उतरती है और इस शृंखला के तहत प्रकाशित होकर धूम मचा चुकी किताब *सिर का सालन* को पढ़ने के बाद तो कोई शक-सुबहा बचता ही नहीं है। *सिर का सालन* में खदीर बाबू ने जो भाषा रची है और ग़ुलाम मोहम्मद शेख के जिन अद्‌भुत और रहस्यमयी चित्रों से वो किताब सजी है, इस संयोजन ने किताब को अनुपम बना दिया है। पढ़कर लगता है कि यह वाक़ई एक डिफरेंट टेल है।

खदीर बाबू तेलुगु भाषा के प्रमुख लेखक हैं। उन्होंने तेलुगु में लोक साहित्य के संकलन, सम्पादन और पुनर्लेखन का काम भी किया है। *स्कूल की अनकही कहानियाँ* संकलन की तीन कहानियों में पहली कहानी खदीर बाबू की ही लिखी हुई है। कहानी का नाम है– 'तीन

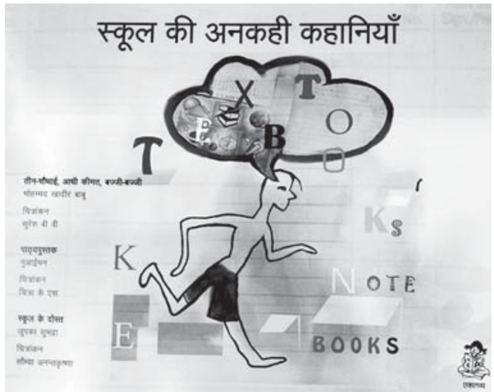

चौथाई, आधी क़ीमत, बज्जी बज्जी'। यह एक सातवीं कक्षा पास कर आठवीं में आए बच्चे के आन्तरिक मन की मार्मिक और मस्त कहानी है। मार्मिक इसलिए कि वह बच्चा तीन चौथाई दाम की किताबों को आधी क़ीमत पर पाने के लिए कितना सोचता है, कितने तरह के गणित लगाता है और किस-किस तरह के अचूक प्रयास करता है, उस 'ग़रीबीली ग़रीबी' को खदीर बाबू ने रोमांचक ढंग से प्रस्तुत कर भारत के गाँवों और जन-सामान्य के बीच छिपे उस चरित्र को उद्‌घाटित कर दिया है जिसे आप सहज ही हर कहीं पा सकते हैं। परिस्थितियों ने एक बच्चे को कम उम्र में ही वयस्कों की तरह सोचने, समझने और बरताव करने वाला बना

दिया है। दूसरी ओर, यही कहानी मस्त इसलिए लगती है कि वह बच्चा उसकी जीवन स्थितियों में आई मुश्किलों पर न तो उदास होता है और न ही किसी तरह की छिछली भावुकता के लिए उसके मन में कोई जगह है। बल्कि वह विपरीत परिस्थिति का स्वागत करता है और उसका सामना करने के लिए ख़ुद को तैयार रखता है। वह कहता है– 'जिन माँ-बाप ने हमें जन्म दिया, उन्होंने छठवीं या सातवीं कक्षा में भी मुझे नई पाठ्यपुस्तकें दिलवाने की परवाह नहीं की। मैंने हमेशा पुरानी पुस्तकों से काम चलाया। अब वो लोग तो मुझे पाठ्यपुस्तकें दिलवाएँगे नहीं, तो मैंने सोचा, क्यों न किसी ऐसे लड़के से किताबें माँग ली जाएँ जो अब उसके काम नहीं आ रहीं।... इस कोशिश में मेरी मुलाक़ात एक सेट्टी लड़के से हुई जिसका नाम गाडेमसेट्टी रमेश था और जो मेरे घर के पास ही रहता था।' फिर वह पूरा क़िस्सा है कि कैसे उसने उसकी लगभग नई किताबों को आधे दामों पर लिया है। जब गाडेमसेट्टी किताबें देने से इंकार करते हुए कहता है 'सवाल ही नहीं उठता। कितने जतन से हमने अपनी किताबों को रखा है, आधी क़ीमत में नहीं।...' तब सातवीं पास बच्चे के दिमाग़ में जो चलता है उसे खदीर बाबू की भेद्य नज़र ने पकड़ लिया है। वह सोचता है, 'समझ में नहीं आया क्या जवाब दूँ। चुपचाप उसे देखता रहा और सिर खुजाता रहा।... देखने में वह दुबला-पतला और सींकिया लगता है मानो अभी हवा में घुल जाएगा, लेकिन एक किलो चने खा जाता है। उसकी जेब में चने भरे रहते हैं जिन्हें वह दिनभर चबाता रहता है।' यहाँ इस बच्चे के चरित्र की एक ऊँचाई समझ में आती है। उसे यह मलाल नहीं है कि उसके पास खाने को चने नहीं हैं। वह ज़िन्दगी के इस रंग को बिना किसी दयनीय भाव के देख रहा है और यह सोचते हुए अवलोकन का आनन्द भी लेता है कि 'जब वह हँसता है, चने के सफ़ेद-सफ़ेद टुकड़े उसके काले-काले मसूड़ों पर चिपके दिखाई देते हैं।' उसका यह सोचना कहीं-न-कहीं गाडेमसेट्टी के ज़रा बेशरमी से खाने को भी इंगित कर देता है।

जिस कुशलता से वह दो तिहाई क़ीमत की किताब आधी क़ीमत में ख़रीदता है, उसी विवेकपूर्ण कुशलता से उसे अपने लिए लेपाक्षी नोटबुक्स का भी इन्तज़ाम करना है, क्योंकि माता-पिता तो कुछ मदद करने वाले हैं नहीं। इसके लिए उसकी नज़र ठेकेदार के लड़के मलकोंडइया पर है। वह उसके पास जाता है और एक-से-एक तर्क पेश करने के बाद कहता है, 'मलकोंडइया! तुम्हें नोटबुकों की समस्या पता नहीं है।... तुम मुझे साथ ले चलना, मैं तुम्हें अच्छी वाली दिलवा दूँगा।'

मलकोंडइया तो जैसे उसके बुद्धिमत्तापूर्ण तर्कों में फँसने को तैयार ही बैठा था। कहता है, 'हाय!हाय! तुमने मुझे बचा लिया। ठीक है चलो।'

फिर वह मलकोंडइया को बढ़िया वाली नोटबुक दिलवाता है। यहाँ एक मर्मस्पर्शी बात लेखक के चरित्र ने कही है, 'नोटबुकों के मोटे पुट्ठे देखकर और काग़ज़ की ख़ुशबू को महसूस कर बड़ी ख़ुशी हो रही थी। लेकिन यह ख़ुशी मेरे लिए नहीं थी।'

यह राज्य सत्ता पर भी एक बेहतरीन व्यंग्य है कि वह राज्य के तमाम बच्चों के लिए समान रूप से समान तरह की नोटबुक तक मुहैया कराने को लेकर कितनी बेपरवाह है। बहरहाल, वह मलकोंडइया के लिए रद्दी हो चुकी पुरानी नोटबुकों के बचे हुए पन्नों से अपने लिए नोटबुक तैयार कर शिक्षा के रण में उतरने की सशक्त तैयारी करता है।

इस चरित्र की ख़ास बात यही है कि यह कभी कमज़ोर नहीं पड़ता है। रद्दी नोटबुकों से अपने लिए नोटबुक बनाने के बाद वह कहता है, 'सिलने के बाद उन्हें मैं अपनी नाक के नज़दीक लाया। उनमें पुराने काग़ज़ की मस्त ख़ुशबू आ रही थी। लेपाक्षी नोटबुक तालाब में जाकर डूब मरें, हमारी नोटबुक क्या उनसे कोई कम है!'

उसे मालूम है नवीं में भी उसे गाडेमसेट्टी की ही किताबें हासिल करनी हैं और उसे विश्वास है कि वह उन्हें हासिल करके रहेगा, इसमें यह विश्वास भी निहित है कि पढ़ाई की इन सीढ़ियों

को वह इसी हौसले से चढ़ते रहेगा। सो वह गाडेमसेट्टी की किताबों को देखकर कहता है, 'मुझे लगा ये मेरी ही बच्चियाँ हैं जो पराए घर रहने जा रही हैं, लेकिन सालभर बाद फिर मेरे घर आ जाएँगी। इसलिए मैं गाडेमसेट्टी रमेश के साथ उन्हें छोड़ने उसके घर तक गया।'

ऐसा दमदार जीवन्त चरित्र रचने के लिए खदीर बाबू को सलाम।

2

नुआईमन द्वारा लिखित 'पाठ्यपुस्तक' कहानी अधिकांश राज्यों की पाठ्यपुस्तकों की तरह ही एक बच्चे के स्कूली शिक्षा के सफ़र की दुखभरी कहानी है।

स्कूल के पहले दिन के लिए बच्चे के मन में तरोताज़ा उमंगों के जो रंग हैं, धीरे-धीरे उनपर एक अवसाद भरी धूल छाने लगती है। उमंग के रंग दबते चले जाते हैं।

चित्र : 'पाठ्यपुस्तक' कहानी से

लेखक ने साहिर के स्कूल जाने के पहले दिन का अनुपम चित्र खींचा है– 'वह चल नहीं रहा था, फुदक रहा था। वह ख़ुश था लेकिन जल्दी में भी था। बारिश आ गई तो? उसकी नई कमीज़ गन्दी हो गई तो? क्या अप्पा उसे रोज़ स्कूल छोड़ने आएँगे? न ही आएँ तो ठीक रहे। बड़े भैया-दीदी के साथ हँसते-खेलते हुए स्कूल आने में ज़्यादा मज़ा आएगा।'

जिस साहिर ने स्कूल के पहले दिन सोचा था कि 'अब वह बड़ा हो गया है।' वह नहीं जानता था कि उसके सपनों का स्कूल उसे नहीं मिल रहा है बल्कि एक ऐसी जगह उसे मिलने जा रही है जहाँ बमुश्किल ही वह अपने-आप को ख़ुश पाएगा।

नुआईमन लिखते हैं– 'साल-दर-साल अध्यापक उसकी स्लेट पर लिखे गए अबूझ शब्दों पर सही और ग़लत का निशान लगाते रहे और इसी तरह साहिर छठी कक्षा में पहुँच गया। कभी-कभार वह टीचर द्वारा पिटाई लगाने से दुखी भी हो जाता। स्कूल के सपने जो वह देखता था उसमें पिटाई की कोई जगह नहीं थी।' जिस देश में न नेता कहीं वक़्त पर पहुँचते हैं, न अफ़सर, न ही प्रायः शिक्षक, उस देश में किसी-किसी दिन दस मिनट की देरी हो जाने पर साहिर को 'अन्य अध्यापकों के सामने लताड़ा जाता'।

'स्कूल और मदरसे के अलावा एक और दुनिया थी, जिसे साहिर प्यार करता था। वह थी– दादी माँ की कहानी और क़िस्सों की दुनिया।' इन क़िस्से-कहानियों को सुन-सुन कर साहिर के विवेकी हो चुके ज़ेहन में एक दिन यह बात आती है– 'ये कहानियाँ और गीत हमारी पाठ्यपुस्तक में क्यों नहीं हैं?' साहिर की यह समझ पाठ्यपुस्तक की सीमाओं को रेखांकित करती है। एक किशोर बच्चे को भी आसानी से समझ में आ जाने वाली बात पाठ्यपुस्तकों तक को दलगत राजनीति से नहीं बख़्शने वाली सरकारों को समझ में नहीं आती है। पाठ्यपुस्तक के बीच छड़ी रखकर कक्षा में प्रवेश करने वाले शिक्षकों से उम्मीद ही क्या की जाए। यहाँ सवाल यह भी उठता है कि किसने बनाया हमारे शिक्षकों को ऐसा? क्यों उनके पढ़ाने के तौर-तरीक़ों से समझ-आधारित शिक्षण ग़ायब है? क्यों उनका ज़ोर परीक्षा-केन्द्रित शिक्षण पर रहता है? ऐसी कूढ़मगज शिक्षा व्यवस्था किस तरह के नागरिकों का निर्माण कर सकती है? तरह-तरह के भीतरी और बाहरी दुष्चक्रों में फँसी शिक्षा व्यवस्था से निकलने वाले देश का भविष्य क्या हो सकता है? ऐसे अनेक प्रश्न 'पाठ्यपुस्तक' कहानी को पढ़कर हमारे ज़ेहन में कौंधते हैं।

हालाँकि अपने अन्त की ओर बढ़ते-बढ़ते कहानी में थोड़ा सायासपन दिखाई देने लगता

है जहाँ साहिर यह प्रश्न उठाता है कि 'सर, पूरी पुस्तक में एक भी मुस्लिम नाम नहीं है।' सवाल वाज़िब है और ज़रूर पूछे जाने योग्य है लेकिन साहिर जैसे छोटे बच्चे के द्वारा पूछा जाना इस ज़बरदस्त विश्वसनीय चरित्र से कुछ अतिरिक्त माँग करने जैसा लगता है।

3

'स्कूल के दोस्त' जूपाका सुभद्रा लिखित एक शानदार कहानी है। यह सुवर्णा और श्रीलता नाम की दो लड़कियों की कहानी है जो अब माध्यमिक में पढ़ने के लिए अपने गाँव से पड़ोस के गाँव में जाती हैं। इस कहानी में कई बातें सांकेतिक हैं जो कहानी पढ़ते हुए पाठक को आसानी से समझ आ जाती हैं। आसानी से समझ में आना ही इन संकेतों की ख़ूबसूरती है। जैसे कि लेखिका चाहतीं तो इन दोस्तों को केवल दोस्त या गाँव की दोस्त भी कह सकती थीं लेकिन इन्हें स्कूल के दोस्त कहा। स्कूल यानी वह संवैधानिक जगह जहाँ सब समान हैं, जाति, धर्म, लिंगभेद जैसी बातों के लिए कोई जगह नहीं है। जबकि भारतीय ग्रामीण परिवेश में आज भी जातिगत ऊँच-नीच की जड़ें पूरी तरह उखड़ नहीं पाई हैं। धार्मिक भेदभाव को पनपाने में हमारे समय की धूर्त राजनीति कोई कोर कसर बाक़ी नहीं छोड़ रही है। यह विडम्बना ही है कि आज की राजनीतिक ताक़तें हमारे संवैधानिक मूल्यों की ही जड़ें काटने पर तुली हैं। ऐसे में 'स्कूल के दोस्त' जैसी कहानी की समसामयिकता और प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है।

कहानी एक सपने की तरह खुलती है जहाँ दो होनहार बालिकाएँ गाँव में प्राथमिक शिक्षा पूरी

चित्र : 'स्कूल के दोस्त' कहानी से

कर चुकी हैं और अब उन्हें माध्यमिक शिक्षा के लिए पड़ोस के गाँव जाना है। गाँव में लड़कियों की शिक्षा के प्रति सोच का आलम आज भी यह है कि 'किसी परिवार ने अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिए बाहर नहीं भेजा था। गाँव के स्कूल में तो इसलिए भेज देते थे कि स्कूल जाने के साथ-साथ वे घर की देखभाल भी आसानी से कर सकती थीं।' श्रीलता और सुवर्णा दोनों के पिता पहली बार लड़कियों को पड़ोस के गाँव में पढ़ने भेजने का साहस दिखाते हैं। यह कम-से-कम उस छोटे-से गाँव में एक नन्हीं क्रान्ति से कम बात नहीं है। श्रीलता के पिता पोशालु जिन्हें गाँव में पोशन्ना कहकर पुकारा जाता है, और सुवर्णा के पिता सम्बन्ना के बीच की उधेड़बुन भी बड़ी रोचक है। सम्बन्ना एक बुनकर हैं और इतने सम्पन्न हैं कि उनकी पत्नी अपनी बेटी के लिए तीन-तीन स्कूल ड्रेस सिलवाकर रख सकती है। श्रीलता के पिता पोशन्ना आधा एकड़ सूखी ज़मीन के मालिक हैं और उन पति-पत्नी को घर चलाने के लिए दिहाड़ी मज़दूरी करनी पड़ती है। सम्बन्ना को अपनी बेटी को आगे पढ़ाने के लिए श्रीलता का साथ चाहिए सो वे पोशालु को समझाते हैं कि, 'पीढ़ी-दर-पीढ़ी क्या तुम काँदा कीचड़ में हाथ घुसेड़े रहोगे और जीने की ख़ातिर अपने बैलों को कोंचते रहोगे?' पोशालु को बात समझ में आ जाती है कि, 'बेटी, मेहनत मजूरी करके पीली पड़ जाए इससे तो अच्छा है कन्धे पर बस्ता टाँगे, हँसते-उछलते स्कूल जाए।'

स्कूल एक संवैधानिक जगह है जहाँ भेद के लिए जगह नहीं है इसलिए गाँव में जात-पाँत, ऊँच-नीच के बावजूद, 'घर से लाया खाना वे मिल-बाँटकर खातीं। दोनों एक दूसरे को अपने मनके, चेन, चूड़ी और बिन्दी दे देतीं।' लेकिन ध्यान दें इस लेकिन पर कि 'गाँव लौटने पर दोनों लहसुन की कलियों की तरह चुपचाप अपने-अपने घर चली जातीं।' ये पंक्तियाँ बताती हैं कि वे समानता के सुख को किस तरह चुपचाप सहेज रही थीं। इस सुख पर पहाड़ टूटता है जब सुवर्णा झण्डा फहराए जाने के दिन अपनी तीन में से एक ड्रेस गाँव की आँख से छिपाकर अपनी दोस्त श्रीलता को दे देती है। और जब सुवर्णा की

माँ के सामने यह भेद खुल जाता है तो सुन्दर सपने से शुरू हुई कहानी एक दु:स्वप्न में बदल जाती है। सुवर्णा की माँ ने श्रीलता की पहनी हुई ड्रेस को घर से बाहर फेंक दिया। इतना ही नहीं, वह कहती है, 'दोस्ती स्कूल में होती है हमारे गाँव में नहीं। नई की नई ड्रेस बरबाद कर दी। अब जला दे उसे।... चुपचाप क्यों खड़ी है? डाल उसपर घासलेट और जला दे उसे।' कहानी में जहाँ और जिस जीवन्त तरह से यह दारुण प्रसंग आता है, लगता है जैसे समानता के अधिकार को जला दिए जाने की बात हो रही है।

'सुवर्णा जो अब तक रो रही थी, फुर्ती से लपकी, ड्रेस का बण्डल उठाया और श्रीलता के घर की तरफ़ दौड़ गई।'

'सुवर्णा की माँ देखती रह गई। वह अपनी बेटी का पीछा नहीं कर सकती थी।' कहने की ज़रूरत नहीं कि साहित्य का यही तरीक़ा है, वह इसी तरह से मुक्ति की साँस देता है।

4

प्यारी मैडम किताब का ये नाम इतना सुन्दर है कि आपको उम्मीद से भर देता है। किताब पत्र शैली में लिखी गई है। पत्रों की डायरी के पन्नों पर प्रस्तुति भी किताब को आकर्षक बनाती है। किताब की लेखिका रिनचिन को मैं उनकी बेमिसाल किताब *मैं तो बिल्ली हूँ* से जानता हूँ। जो उन्होंने मूलतः अँग्रेज़ी में लिखी है और एकलव्य ने उसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। लेखिका के अलावा रिनचिन का एक और परिचय है कि वे एक्टिविस्ट हैं। इस नाते जल, जंगल, ज़मीन को लेकर उनकी पक्षधरता और सरोकार बहुत स्पष्ट हैं। वे हाशिए पर डाल दिए गए लोगों के अधिकारों के लिए संघर्षरत हैं।

प्यारी मैडम किताब की बालिका अपनी प्यारी मैडम को वयस्क चिन्तन से भरे पत्र लिखती है। इस बालिका की माँ भी एक एक्टिविस्ट हैं जो गाँव-गाँव में मीटिंग और चक्काजाम में भागीदारी करती हैं। वह आदिवासियों की ज़मीनें छीनने पर तुली कम्पनियों के ख़िलाफ़ संघर्षरत हैं। जब हम पत्र-दर-पत्र इस किताब से गुज़रते हैं तो समझ में आता है कि लेखिका का अपना चिन्तन कहानी की बालिका में आरोपित हो गया है। इस वजह से कहानी में जो सायासपन और बनावटीपन आया उसके चलते किरदार की विश्वसनीयता खोती चली गई। इस किताब को पढ़ने वाला पाठक कहानी को पढ़ता तो है पर कहानी के आस्वाद से वंचित ही रहता है।

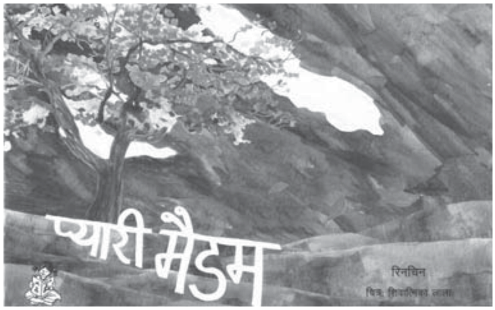

5

चारों ही कहानियों का चित्रांकन और प्रस्तुति नायाब हैं। इनके कलाकारों को सलाम। एकलव्य ने जब स्कूल की अनकही कहानियों को प्रकाशित कर ही दिया है तो ज़ाहिर है अब ये अनकही नहीं रह गई हैं। ये ज़्यादा-से-ज़्यादा शिक्षकों और अभिभावकों तक पहुँचें और उनमें अपने बच्चों के अन्दरूनी विवेकी, कोमल और सुन्दर संसार को समझने की ललक जगे, यही कामना है। अनकही कहानियों की इस नायाब श्रृंखला का प्रकाशन एकलव्य ने किया है और इस दुर्लभ कहानी श्रृंखला का कुशल सम्पादन सुशील शुक्ल ने किया है। प्रिय लेखक स्वयंप्रकाशजी जो अब हमारी यादों ही में रह गए, कहने की ज़रूरत नहीं कि उन्होंने अनकही कहानियों के अनुवाद का अनुपम गद्य गोदा है।

प्रभात शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे हैं। दो कविता संग्रह *अपनों में नहीं रह पाने का गीत* साहित्य अकादमी से व *जीवन के दिन* राजकमल से प्रकाशित। बच्चों के लिए कविता, कहानियों की कई किताबें प्रकाशित। विभिन्न लोक भाषाओं में बच्चों के लिए ढेर सारी किताबों का पुनर्लेखन-सम्पादन। 'युवा कविता समय सम्मान', 2012, सृजनात्मक साहित्य पुरस्कार, 2010, बिग लिटिल बुक अवॉर्ड- 2019।

सम्पर्क : prabhaaat@gmail.com